



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 8.4
 IJAR 2022; 8(8): 255-257
www.allresearchjournal.com
 Received: 17-06-2022
 Accepted: 18-07-2022

डा० सुमन रघुवंशी

एसोसिएट प्रोफेसर—संस्कृत विभाग
 श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय,
 अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, भारत

जैन दर्शन : नय शास्त्र (व्यवहार नय, निश्चय नय)

डा० सुमन रघुवंशी

DOI: <https://doi.org/10.22271/allresearch.2022.v8.i8e.10346>

सारांश

जैन—दर्शन यह स्वीकार करता है कि तत्व का ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है। “प्रमाण वस्तु के सम्पूर्ण रूप को ग्रहण करता है जबकि ‘नय-प्रमाण’ के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को बतलाता है। प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु को, नय एक देश से स्पर्श करता है जबकि प्रमाण वस्तु को समग्र रूप से ग्रहण करता है और वह अंश विभाजन की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है इसलिए नय, वस्तु के किसी एक धर्म को बतलाता है। जैसे, “यह घट है”, — इस ज्ञान में, प्रमाण घड़े को अखण्ड भाव से उसके रूप, रस, ग्रन्थ, स्पर्श आदि अनन्त गुण-धर्मों को विभाग न करके पूर्ण रूप में जानता है जबकि कोई भी ‘नय’ उसका विभाजन करके रूपवान घड़ा आदि रूपों में अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है।

कूटशब्द : नय, व्यवहारनय, निश्चयनय, प्रमाण, वस्तु, तत्व

प्रस्तावना

प्रमाण और नय में दृष्टिकोण का भेद है। जब ज्ञाता की दृष्टि वस्तु के सकल-ग्रहण की होती है तो उसका ज्ञान प्रमाण कहलाता है और जब उसी प्रमाण से ग्रहीत वस्तु की खण्डशः गृहण करने का अभिप्राय होता है तो वह अभिप्राय ‘नय’ कहलाता है। इस प्रकार नय, प्रमाण और अप्रमाण दोनों होता है। कोई यदि यह प्रश्न करे कि नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण है तो इसका उत्तर हाँ अथवा नहीं में नहीं दिया जा सकता है। जैसे घड़े में भरे हुए गंगाजल को न तो गंगा ही कहा जा सकता है और न ही उसे अगंगा कहा जा सकता है। इस प्रकार नय प्रमाणिक देश होता है अप्रमाण नहीं। नय के द्वारा ग्रहण की जाने वाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु किन्तु वह वस्तु का एक देश ही हो सकती है।

वस्तुतः नय के दो भेद हैं

- 1— निश्चय नय
- 2— व्यवहारनय

निश्चय और व्यवहार नय को यद्यपि अध्यात्मक्षेत्र का ही विषय माना गया है तथापि सिद्धान्तरूप में भी इनका वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरण रूप में “सर्वार्थसिद्धि” नामक तत्त्वार्थवृत्ति के पाँचवें अध्याय में “लोकाकाशेश्वगाहः” सूत्र की व्याख्या में शंकर — समाधान देते हुए कहा गया है कि धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है। यह कथन व्यवहार नय के माध्यम से किया गया है।

इसी प्रकार अकलंकदेव ने “तत्त्वार्थवार्तिक” में भी इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि — “तथा लोकाकाशेश्वगा हो धर्मादीनामित्त व्यवहारनयादेशादुक्तम्, परमार्थतस्तु सर्वद्रव्याणि स्वात्माधिकरणानि”। अर्थात् लोकाकाश में धर्मादि का अवगाह है यह व्यवहारनय से कहा है, परमार्थ से सबद्रव्य अपने ही आधार हैं। इस प्रकार “सिद्धान्त” क्षेत्र में भी व्यवहार तथा निश्चय नयों का वर्णन प्राप्त होता है।

“व्यवहार नय” की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि “जो दृष्टि वस्तु के बाह्यवस्था की ओर लक्ष्य करें, वही व्यवहारनय है। इस नय का आधार इन्द्रियगम्य ज्ञान है तथा इसके साथ भौतिकवाद तथा बहुत्ववाद को भी जोड़ा जा सकता है। भगवान् महावीर को मान्य था कि “व्यावहारिक” और “नैश्चयिक” नयों की परिकल्पना करके मानव जगत् को समझाया जा सकता है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ही नयों की आवश्यकता है। व्यावहारिक सभी मिथ्या ही है, या नैश्चयिक ही सत्य है, ऐसा उनको स्वीकार नहीं था। भगवान् महावीर का कहना था कि “व्यवहार में लोक इन्द्रियों के दर्शन की प्रधानता से वस्तु के स्थल रूप का निर्णय करते हैं और अपना निर्बाध व्यवहार चलाते हैं, अतएव “लौकिक नय” है, पर स्थल रूप के अलावा वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है जो इन्द्रिय — गम्य न होकर केवल प्रज्ञागम्य है, यही प्रज्ञामार्ग “नैश्चयिक नय” है।”

Corresponding Author:

डा० सुमन रघुवंशी

एसोसिएट प्रोफेसर—संस्कृत विभाग
 श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय,
 अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, भारत

वीतरागी महावीर जी का मानना था कि उक्त दोनों नयों के माध्यम से ही वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जब तक मनुष्य इन दोनों का सहारा नहीं लेगा, तब तक किसी भी वस्तु या पदार्थ के विषय में सही ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

जैनदार्शनिकों ने व्यवहार नय के दो भेद किये हैं – सदभूत व्यवहानय और असदभूत व्यवहानय। एक ही वस्तु में भेद करने वाला सदभूत व्यवहानय है जिसके दो भेद हैं – अनुपचरित और उपचरित। शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी में, शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी में भेद करने वाला शुद्ध सदभूत या अनुपचारित सदभूत व्यवहानय है। इसी प्रकार अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी में तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायी में भेद को विषय करने वाला अशुद्ध सदभूत या उपचरित सदभूत व्यवहानय है। इसी प्रकार असदभूत व्यवहानय के भी दो भेद हैं – उपचरित और अनुपचरित। सम्बन्ध रहित वस्तुओं में सम्बन्ध को विषय करने वाला “उपचरित असदभूत” व्यवहानय है, जैसे— यह धन मेरा है। सम्बन्ध सहित दो भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध को विषय करने वाला “अनुपचरित असदभूत” व्यवहानय है। जैसे – यह शरीर मेरा है।¹⁴

आचार्य कुन्दकुन्द ने “समयसार” में व्यवहानय का वर्णन करते हुए लिखा है कि “व्यवहार नय से ज्ञान। आत्मा! के चरित्र, दर्शन और ज्ञान को बतलाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो नय आत्मा को बद्ध स्पष्ट, अनियत, गुणों विशिष्ट और कर्मों से संयुक्त देखता है, वह व्यवहानय है। यद्यपि व्यवहानय आत्मा के यथार्थस्वरूप को नहीं देखता, परजन्य बद्ध, स्पष्ट आदि दशाओं को ही देखता है, इसलिये अशुद्ध रूप का ही ग्राही होने से उसे “अशुद्धनय” भी कहते हैं। यद्यपि यह प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं तो आप ये आत्मा के स्वाभाविक गुणों को कहते हैं, उसे व्यवहानय का ही विषय क्यों बनाया गया है? तो समाधान हेतु कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने द्रव्यों को गुण-पर्यायात्मक कहा है और यह भी कहा है कि द्रव्य के बिना गुण नहीं तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं किन्तु वस्तु रूप से दोनों की सत्ता वैशेषिक मत की तरह पृथक् नहीं है। वस्तु वास्तव में अखण्ड और अभिन्न है। अतः आत्मा में ज्ञानादिक गुण हैं, ऐसा कहने से सुनने वाले को अखण्ड वस्तु की प्रतीति खण्ड रूप से होती है। इसलिये यह भेद कथन व्यवहानय का विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहानय को “अभूतार्थ” कहा है। तात्पर्य यह है कि व्यवहानय अशुद्ध, हेय, पराश्रित, प्रतिषेध्य तथा लौकिक स्वरूप का ग्रहण करने वाला है। वस्तुतः छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों के विषय में सांसारिक जीवों को भ्रम होता है। अतएव साधारण मनुष्य जीव में अनेक ऐसे धर्मों का अध्यास कर देते हैं, जो वस्तुतः उसके नहीं होते हैं। इसी प्रकार पुद्गल के विषय में भी विपर्याप्त कर देते हैं। इसी विपर्याप्त की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थग्राही कहा गया है और निश्चय को भूतार्थग्राही।

इस प्रकार उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता है। तथा जो जीव अपरम भाव से स्थित हैं वे व्यवहानय से उपदेश देने के योग्य हैं। अपरम भाव की व्याख्या करते हुए कहा गया है – जो पुरुष अशुद्ध अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा सराग सम्यग्दृष्टि रूप शुभोपयोग में और प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत की अपेक्षा भेद रत्नत्रय में स्थित हैं, उनको व्यवहानय प्रयोजनवान है। जैसे धर्म और धर्मों में स्वभाव से अभेद है फिर भी व्यवहार से भेद करके कहा जाता है कि आत्मा में दर्शन – ज्ञान – चरित्र है। उसके बिना मन्दबुद्धि व्यवहारी आत्मा को नहीं समझ सकता है।

व्यवहानय के महत्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य यशोविजय ने “मार्गपरिशुद्धि” में लिखा है कि “निश्चय नय का ही उपभोग करने वाला व्यक्ति मत्त के समान चरण चिन्ह को नष्ट कर देता है, उनको रास्ते पर लाने के लिये व्यवहानय रूपी वज्रमयी श्रृंखला उसके पाँव में डालनी चाहिये। और भी कहा है कि “विवक से व्यवहानय का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का थोड़ा सा भी ज्ञान शुल्क पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ता है। इसके भिन्न का ज्ञान कृष्ण पक्ष

के चन्द्रमा के समान घटता है।” इस तरह निश्चय नय के लिये आवश्यक है कि मनुष्य को पहले, व्यवहानय का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। जब तक व्यवहानय का सही-सही ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक निश्चयनय को भी कदापि नहीं समझा जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने “समयसार” के प्रतिपक्षी रूप में निश्चयनय का निरूपण किया है। जहाँ व्यवहार नय को अशुद्ध, अभूतार्थ कहा गया है, वहाँ निश्चय नय को शुद्ध एवं भूतार्थ कहा गया है। निश्चय नय का स्वरूप इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि “जो आत्मा को अबद्ध, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानता है उसे “शुद्ध नय” कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इसकी व्याख्या में कहा है – जैसे कमलिनी का पत्र पानी में डूबा हुआ है, वह पानी को छू रहा है, इस दृष्टि से हम जब देखते हैं तो उसका पानी को छूना भूतार्थ –सत्यार्थ है। किन्तु कमलिनी के पत्र का स्वभाव है पानी में रहते हुए भी पानी से अछूता रहना, जब हम उसके इस स्वभाव को दृष्टि में रखकर देखते हैं तो उसका पानी को छूना अभूतार्थ है। इसी प्रकार जब हम देखते हैं कि आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध स्पष्ट है तो उसका बद्ध – स्पष्टपना भूतार्थ प्रतीत होता है। किन्तु जब हम देखते हैं कि आत्मा का स्वभाव पुद्गल कर्मों से अछूता है तब हमें उसका बद्ध – अस्पष्टपना अभूतार्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब हम मिट्टी को घड़ा, सकोरा, सुराई आदि विविध पर्याय रूप में देखते हैं तो उसका यह विविधरूप भूतार्थ प्रतीत होता है किन्तु जब मिट्टी को मिट्टी के ही रूप में देखते हैं तो उसके नानारूप अभूतार्थ प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब आत्मा को नारक आदि पर्याय रूप में देखते हैं तो उसका अन्य-अन्यपना भूतार्थ प्रतीत होता है। किन्तु जब कभी भी अन्यरूप न होने वाले आत्मस्वभाव का अनुभव करते हैं तो उसका अन्यान्यपना अभूतार्थ लक्ष्य में आता है।

सारांश यह है कि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक होने के कारण आत्मा भी अनेक धर्मों वाली है। उसके धर्मों में कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही कर्मपुद्गलों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। कर्मजन्य धर्मों को यह अज्ञानी जीव आत्माका का मानता है, क्योंकि उसे आत्मा के यथार्थस्वरूपक । भलीप्रकार से ज्ञान नहीं है। आत्मा एक अखण्ड, नित्य, अनादिनिधन चैतन्यस्वभाव वाला है। उस स्वभाव का अनुभवन करने से अनादि अज्ञान मिटता है और उसके मिटने से ही संसार के बंधन से छुटकारा होता है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आत्मा व्यवहानय की दृष्टि से बद्ध, स्पष्ट तथा निश्चयनय की दृष्टि से अबद्ध, अस्पष्ट रूप वाली है। यद्यपि आत्मा व्यवहानय से सत्यार्थ हैं परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से असत्यार्थ है। इससे स्यादद्वाद की कल्पना की गई है।

व्यवहानय की भांति निश्चय नय के भी भेद किये गये हैं। निश्चयनय के दो भेद हैं— शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। जो निरुपाधिक – उपाधि रहित गुण और गुणी में अभेद को विषय करता है, वह शुद्ध निश्चयनय है, जैसे केवल ज्ञानादि गुण जीव है। उपाधि सहित गुण-गुणी में अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चयनय है, जैसे मतिज्ञानादि गुण जीव है।

निश्चयनय से जीव और शरीर कभी भी एक नहीं है।¹⁵ निश्चयनय सम्यकत्व का कारण है तथा अभेद को विषय करने वाला है। निश्चयनय अपादेय तथा स्वाश्रित है। इस प्रकार निश्चयनय ही सत्यार्थ और उपादेय होने से प्रधान है। वही सम्यकत्व का कारण है। समयसार में कहा भी गया है कि “भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

जैनदार्शनिकों ने निश्चय और व्यवहार से साध्य – साधनभाव स्वीकार किया है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये दोनों नयों की आवश्यकता है। निश्चय नय के लिये व्यवहानय को जानना अति आवश्यक है। जब तक व्यवहानय को नहीं जाना जायेगा तब तक निश्चयनय भी नहीं जाना जा सकता है। निश्चय एवं व्यवहार नय ही सब नयों के मूल – स्तम्भ हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये

दोनों निश्चयनय के साधन या हेतु हैं। भगवान महावीर ने अपने शिष्यों को इन दोनों नयों—निश्चय एवं व्यवहार के माध्यम से ही अनेकान्तवाद को समझाया था। ये ही नय अनेकान्तरूपी महाप्रासाद की भूमिकारूप हैं, ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही “सद्भूतवादी” शब्द का प्रयोग किया है। उनकी विवेचन की शैली आपेक्षिक है। वे वस्तु का विवेचन भूतनय निश्चय, व्यवहार नय तथा द्रव्यार्थिक नयों से करते हैं। अतः नय शास्त्र की दृष्टि से उनका तत्त्व – विवेचन सम्यक बोध के लिए उपयोगी तथा मनोरम बन गया है।

इस शोध का उद्देश्य दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ‘नयशास्त्र’ को समझकर आत्मा के शुद्धतम रूप को जानना है। नयशास्त्र के दो भेदों में से ‘व्यवहारनय’ को जानना अति आवश्यक है। व्यवहारनय से निश्चयनय की यात्रा को समझकर मानव ‘मोक्ष’ का अधिकारी बन सकेगा।

सन्दर्भ सूची

1. स्यादद्वाद एवं ‘सप्तभंगीनय’, आधुनि व्याख्या—डॉ० विभारीराम यादव
2. जैन सिद्धान्त—पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री पृ०—31, 39
3. जैन सिद्धान्त—पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री पृ०—32, 39
4. जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री पृ० 138।